Naveen Shodh Sansar (An International Refereed / Peer Review Multidisciplinary Research Journal)
RNI No.- MPHIN/2013/60638, ISSN 2320-8767, E- ISSN 2394-3793, Scientific Journal Impact Factor (SJIF)- 8.054,
October to December 2024, E-Journal, Vol. I, Issue XLVIII, ISO 9001:2015 - E2024049304 (QMS)

आचार्य विशुद्धसागर के साहित्य में समाजिक चेतना के विविध आयाम

डॉ. रचना तैलंग* दिलीप कुमार जैन**

* प्राध्यापक (हिन्दी) शास. हमीदिया कला एवं वाणिज्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय भोपाल (म.प्र.) भारत
** शोधार्थी (हिन्दी) शास. हमीदिया कला एवं वाणिज्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, भोपाल (म.प्र.) भारत

प्रस्तावना – ***'आचार्य विशुद्धसागर वर्तमान समय में चर्या शिरोमणि के रूप में उनकी ख्याति पूरे देश में वयाप्त है। आत्मकल्याण के सूत्र उनके आचरण और सृजन के द्वारा दिये गये हैं। वे मनुष्य के कल्याण के लिए ऐसे सूत्र हैं जिनके द्वारा व्यक्ति इस भव बंधन से मुक्त हो सकता है। सुख चाहते होतो आत्मानुभूति का प्रयास करों। दु:खों का अंबार तो जीवन में बना ही रहेगा। इसलिए हमेशा अपने विवेक को जाग्रत रखो और जीवन के प्रत्येक अनुभव से शिक्षा प्राप्त कर आत्मकल्याण की दिशा में प्रवृत्त होने का प्रयास करो। यही जीवन का श्रेय और प्रेय है।'***

भारतीय संस्कृति में श्रमण – संस्कृति के साधक अपने आत्मकल्याण के लिए सांसारिक विषय-वासनाओं का परित्याग कर केवल आत्मोत्थान में ही संलग्न रहते हैं। वे जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्त अहिंसा को ही सर्वोपरि मानते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखते हैं कि उनके द्वारा किसी को पीड़ा न पहुँचे। वे आम-आदमी की अंतश्चेतना को जाग्रत करने के लिए प्रवचनों के माध्यम से उन्हें प्रबोधित करते रहते हैं। उनका एक मात्र उद्देश्य रहता है आत्मा का उत्कर्ष और लोक कल्याण की भावना। इस संदर्भ में कहा भी गया है।

'उपदेशक जन जगत में जितने हुए प्रमाण।
उन सबका उद्देश्य था एक लोक कल्याण।'[1]

आचार्य विशुद्धसागर का साहित्यिक अवदान विपुल है, उसमें मानव कल्याण के विविध आयाम देखने को मिलते हैं जो इस प्रकार हैं।

1. **लोक कल्याण की भावना –** श्रमण-संस्कृति के साधकों के मानव कल्याण को सर्वोपरि माना है। आचार्य विशुद्धसागर के साहित्य में मानव कल्याण के विविध रूप देखने को मिलते हैं। मानव कल्याण के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण सूत्र है कि उसके अंदर के असद् विकारों का परित्याग हो और पवित्र भाव उत्पन्न हो। असद् भावों के अन्तर्गत ईर्ष्या, द्वेष, घृणा ही व्यक्ति में सर्वाधिक देखने में मिलते है। जब तक हम इन विकारों का त्याग नहीं करेंगे तब तक व्यक्ति का कल्याण कदापि संभव नहीं है। आचार्य श्री ने घृणा रूपी विकार के परित्याग के संबंध में कहा है-

'घृणा की
दुर्गंध को
हटाना होगा,
निज के अंदर
समरस का रस
भरना होगा।'[2]

मानव की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह प्राय: दूसरों के बारे में ज्यादा सोचता है उसकी निंदा व आलोचना करता है. परन्तु स्वयं के अवगुणों के संबंध में कभी विचार नहीं करता। यदि वह स्वयं के 'आत्मलोचन' की भावना को जागृत कर ले तो फिर उसे निश्चित रूप से जिस आत्मबोध की अनुभूति होगी वह उसके जीवन में असाधारण परिवर्तन को सिद्ध कर देगी। आचार्य विशुद्धसागर इस संबंध में लिखते हैं-

'जिसे लोक जानता है,
तूँ उसे मत जान।
तूँ अपने बारे में,
जानने का प्रयास कर।।'[3]

सृष्टि का प्रत्येक प्राणी सुख शांति की कामना करता है, परन्तु उसे वह प्राप्त इसीलिए नहीं हो पाती क्योंकि उसके ज्ञान और क्रिया में अन्तर्भेद होता है। अर्थात जब तक ज्ञान के अनुसार क्रिया नहीं की जायेगी तब तक लक्ष्य को प्राप्त कर पाना असंभव है। इस संबंध में प्रसिद्ध छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद ने भी लिखा है-

'ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है
इच्छाएँ कैसे पूरी हों मन कीं।
एक दूसरे से न मिल सके
रही विडम्बना जीवन की।।'[4]

इस ज्ञान और क्रिया की एकरूपता के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अपनी वासनाओं पर नियंत्रण करे। क्योंकि विषयों के प्रति आसक्त व्यक्ति कभी सुख-शांति को प्राप्त नहीं कर सकता। इस संबंध में आचार्य श्री का कथन है-

'शांति का मार्ग
निज नियंत्रण है।
आत्म-नियंत्रण शून्य
पुरुष के,
शांति का वेदन कहाँ।।'[5]

सांसारिक प्राणी जन्म लेने के उपरांत एक निश्चित अवधि पश्चात् मरण को प्राप्त करता है। व्यक्ति को अपने कर्मानुसार अनेक योनियों में भ्रमण करना पड़ता है। इस जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होने के लिए कर्म की सत्ता को सर्वोपरि माना गया है। जब व्यक्ति के कर्म शून्य की अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं अर्थात उसके द्वारा भव-भव में इकट्ठे कर्म जब क्षय को प्राप्त हो जाते

हैं तो वह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। उसको आत्मबोध की अनुभूति आवश्यक है। आचार्य श्री का भावना है कि–

'जन्म–मरण सृष्टि का
नियत क्रम है।
इस बोध की अनुभूति से
आत्मद्रव्य की अनुभूति
होती है।'[6]

आत्मकल्याण के लिए जीवन में धर्म के मूल स्वरूप को जानना आवश्यक है। संत, मुनि तथा ज्ञानीजन इसकी परिभाषायें नाना प्रकार से अवश्य करते हैं परन्तु वे भी धर्म के मूल स्वरूप को नहीं समझ पाते हैं। कतिपय लोगों का मानना है कि धर्म वह है जिसे धारण करने पर शांति की अनुभूति होती है। कतिपय विद्वान व्यक्ति की आंतरिक शुचिता तथा उसमें दया और करुणा के भाव को जागृत करने का भाव ही धर्म मानते हैं। जबकि आचार्य श्री की धर्म के संबंध में अपनी अलग ही मान्यता है,
वे कहते हैं –

'धर्म वही है
जो विश्व मैत्री
भाव से पूरित हो।'[7]

आचार्य श्री विशुद्धसागर के साहित्य में लोक कल्याण की इसी भावना को इंगित करते हुए प्रो. (डॉ.) कुसुम पटोरिया लिखती हैं – 'जंगम तीर्थस्वरूप दिगम्बर मुनियों का जैनधर्म को अनवरत व अक्षुण्ण बनाये रखने में अप्रतिम योगदान रहा है। आत्मकल्याण व लोक कल्याण के साधकों ने जनजागरण का महत्वपूर्ण कार्य किया है। मुनिराज ऊर्ध्वगामी संभावनाओं की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। इस उपलब्धि के लिए तपोमय साधना व अपमूल्यों से संघर्ष अपरिहार्य होता है। ये ही लोक के लिए प्रकाश स्तम्भ व प्रेरणा पुंज बनते है।'[8]

2. सार्थक जीवन के विविधा सूत्र – आचार्य विशुद्धसागर की मान्यता है कि जीवन को सार्थक बनाने का एक ही वास्तविक लक्ष्य होना चाहिए कि वह आत्मकल्याण की ओर प्रवृत्त हो जिससे कि उसे भव–बंधन से मुक्ति मिल सके। इसके लिए सद्कर्मों की आवश्यकता और असद कर्मो का परित्याग आवश्यक है। क्योंकि कर्म ही हमें संसार में भ्रमण कराते हैं; फिर जन्म और मृत्यु का अन्योन्याश्रित संबंध है। जिसका जन्म हुआ है उसकी मृत्यु भी अवश्य होगी। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को सदैव इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि उसके द्वारा जीवन में कुछ ऐसे कार्य किये जायें जिससे कि समापन बेला पर आत्मतोष की अनुभूति हो सके। इसलिए आचार्य श्री ने मानव को सचेत करते हुए कहा है–

'भोले प्राणी
सिंह मुख में
गया मृग,
क्या बचा पाएगा,
अपने प्राण।'[9]

मनुष्य जीवन में रागद्वेष और कषाय की आँधी अत्यंत तीव्र होती है जो उसे आत्मज्योति जाग्रत करने का अवसर ही नहीं देती। फिर जब तक व्यक्ति आस्था के दीप को जलाने का प्रयास नहीं करेगा तब तक उसके जीवन में मिथ्यात्व का अंधाकार समाप्त होने वाला नहीं है। आचार्य श्री लिखते हैं–

'आस्था का दीप
जलाओ .....
मिथ्यात्व का अंधियारा
गहरा है .....
कषाय की बयार
चल रही सब ओर,
आत्मज्योति का दीप
बुझने न पाये .....।'[10]

परिवर्तनशीलता सृष्टि का शाश्वत् नियम है। यही परिवर्तन विकास का द्योतक है, उन्नति का प्रतीक है, सौंदर्य का आधार है, इसलिए व्यक्ति को इस सत्य से अवगत होना चाहिए कि 'जो है वह हमेशा नहीं रहेगा।' इसलिए दु:ख में दु:खी और सुख में सुखी होने का भ्रम ज्यादा देर तक नहीं पालना चाहिए। इस संबंध में आचार्य श्री का प्रबोधन कुछ इस प्रकार का है–

सबके दिन एक से नही रहते,
डाल पर मुस्कराती कली
एक दिन चरणों में चढ़ जाती
गगन में झूमने वाले भी,
एक दिन, अग्नि में
जल जाते..... अरे।''[11]

यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि प्रत्येक प्राणी को अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए सर्वत्र अपने विवेक का प्रयोग करना चाहिए। यह विवेक ही हमें जीवन के उन उच्चादर्शों को अपनाने के लिए प्रेरित करेगा जो हमारे आत्मोन्नति में सहायक हो सकते हैं। आचार्य श्री ने भी उसी विवेक बुद्धि की ओर इंगित करते हुए कहा है–

'विवेक जीवन को
धन्य बनाता
इसीलिए
विवेक सभी जगह
पूजा जाता
अविवेकी तो सदैव
दु:ख, अशांति और लोक निंदा
का पात्र बनता है।'[12]

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य श्री के संपूर्ण साहित्य में जीवन को सार्थकता प्रदान करने वाले सूत्र बिखरे पड़े हैं। इस संबंध में डॉ. कुसुम पटोरिया लिखती हैं–'आचार्य श्री की कविताएँ भी उसी तरह शास्त्रों से नि:सृत अमृत की बूँदें हैं। ये धर्म के मर्म को उद्घाटित करती हैं, जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने की कला सिखाती हैं। ये श्रेष्ठ विचार कण हैं, जो प्रगाढ़ अनुभूतियों के कारण सूक्तियों के रूप में परिणमित हैं। कम शब्दों में सारभूत कथन सूक्ति है।'[13]

3. मानव जीवन का औचित्य / उपादेयता – साहित्य सृजन का मूल उद्देश्य सामाजिक उत्थान, व्यक्ति का कल्याण, उसके सुख–शांति के लिए उन तत्त्वों का निरूपण जिनके माध्यम से उनके जीवन की सार्थकता सिद्ध होती है। व्यक्ति इस संसार में किस प्रयोजन से आया है और वह उस प्रयोजन में सही अर्थों में सफल हुआ है या नहीं उसका आकलन करना भी आवश्यक है। व्यक्ति को यह जानने का अवश्य प्रयास करना चाहिए कि सांसारिक भटकन से किस प्रकार मुक्ति मिल सकती है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह कर्मरूपी कीचड़ में धंसने का प्रयास न करे और अपनी उन्नति के लिए

वैराग्य पथ का अनुसरण करते हुए आत्मकल्याण की भावना को अंगीकार करते हुए जीवन के औचित्य को प्रतिपादित करने का प्रयास करे। इसीलिए आचार्य श्री का कथन है–

'राग को हटाओ
वैराग्य भाव का भाव जगाओ
निज वैभव के प्रगटीकरण
से ही सिद्धि संभव है।'[14]

ऐसा माना जाता है कि चिंतन के माध्यम से हमारा चित्त निर्मल होता है, चरित्र पवित्र होता है और मन, वचन, काय की विशुद्धि बढ़ जाती है। चिंतन के माध्यम से मन मानवता के कल्याण हेतु विचार करते हुए निर्विकल्प भाव से मानवता के कल्याण का चिंतन करता है। आचार्यश्री का भी यही मानना है कि –

'चिंतन वहीं
जिसमें चिंता न हो,
न हो गिरने का भय
और न खोने की आशंका।'[15]

4. आत्मकल्याण के लिए रत्नत्रय की आराधाना – जैनदर्शन में रत्नत्रय को काफी महत्व दिया गया है अर्थात सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र के माध्यम से हम यहाँ पर यह कह सकते हैं कि देव, शास्त्र, गुरु अथवा तत्त्वों पर समीचीन श्रद्धा करना ही सम्यक दर्शन है, आत्मतत्त्व को पहचानना ही सम्यक् ज्ञान है, तत्त्व ज्ञान का फल कर्मो से कैसे दूर करना होता है यही सम्यक चारित्र है। इस सृष्टि में जो पीड़ा और क्लेष का भाव होता है वह हमारी आत्मा की अज्ञानता पर ही अवलंबित है। आत्मा का मुक्त होना ही जीवन को आध्यात्मिक बना देता है, पर सेवा में जीवन का उत्सर्ग करना ही सच्ची चारित्रिक सम्यक्ता प्राप्त करना है। इसीलिए साधु धर्म को विश्व–बंधुत्व का व्रत माना गया है, क्योंकि एक सच्चा साधु ही जन्म, जरा, मृत्यु जैसी आधिकारिक उपाधि आदि सब कृत्यों से रहित होकर परमानंद स्वरूप से मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। जैन कवियों और दार्शनिकों का स्पष्ट मत है कि जीवन में कल्याण का मार्ग सबके लिए खुला हुआ है। गुरू में अपार श्रद्धा धर्म प्रभावना के लिए परम् आवश्यक है। भगवान की प्रतिमा के दर्शन से मन का समस्त कालुष्य धुल जाता है। जीवन को गतिशील बनाने के लिए अहिंसा का अनुगमन करना चाहिए। उसके लिए मनुष्य का दयावान और करुणावान होना आवश्यक है। क्योंकि ईश्वर की प्राप्ति के लिए ये भावनाएँ अत्यंत सरल मार्ग प्रशस्त करती हैं। इन्हीं कारणों से जैन–दर्शन आत्मा के उत्कर्ष के लिए अनेक प्रकार से विवेचन करता है जो हमारे जीवन को उत्कर्ष प्रदान करती हैं।

5. जीवन में कर्म सिद्धान्त की प्रासंगिकता – कर्म सिद्धान्त जैन–दर्शन में सर्वमान्य सिद्धान्त है। कहा भी गया है कि जैसा हम बोयेंगे बैसा ही हम काटेंगे। व्यक्ति अपने जीवन में नाना प्रकार के कर्मरूपी बीजों को बोता रहता है और समय आने पर उसे अच्छे बुरे कर्मो का फल अवश्य प्राप्त होता है। इस सृष्टि का निर्माता न तो किसी को सुख देता है और न ही किसी को दुःख देता है। वह केवल एक द्रष्टा मात्र है। इस सृष्टि के रंगमंच पर आप अपना किरदार किस रूप में निभाते हैं ये आपको स्वयं ही तय करना होगा। व्यक्ति को जिंदगी का यथार्थ समझ में तो आता है, किन्तु काफी बिलंब से। जब समझ में आता है तब समय काफी निकल जाता है। इसलिए हमारे पास जो कुछ बचता है, वह है 'पश्चाताप'। कर्मो के कारण ही अमीर व्यक्ति दरिद्र हो सकता है और दरिद्र व्यक्ति अमीर हो सकता है। ईमानदार व्यक्ति बेईमान हो सकता है और बेईमान ईमानदार हो सकता है। इसलिए यह कहना कठिन है कि वास्तव में व्यक्ति अपने आप में क्या है। यह समय के परिवर्तन के हिसाब से तय होता है। 'अहंकार' मानव का सबसे बड़ा शत्रु है। वह मानव को सदैव अशांत बनाये रखता है। जबकि व्यक्ति को इस अहंकार की अकड़ से बचने का प्रयास करना चाहिए, अन्यथा यह अहंकार दुःखदायी ही होगा। आचार्य श्री का मानना है कि कर्मो की गति अपने आप में निराली है। कर्मो की कुदृष्टि पड़ने पर लाखों व्यक्ति हाहाकार मचाने लगते हैं। कर्मो ने सती सीता, राम और तीर्थंकर ऋषभदेव को भी नहीं छोड़ा। इसलिए सांसारिक प्राणियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसे सद्कर्म ही करते जाना चाहिए तभी उसे जीवन में शांति का अनुभव संभव हो सकेगा –

'कर्मो ने सती सीता
राम को
नहीं छोड़ा।
तीर्थंकर ऋषभदेव को
छः माह
तक घुमाया।'[16]

जीवन को सार्थक बनाने के विविधा सूत्र – आचार्य विशुद्धसागर जी, ने मनुष्य के जीवन को सार्थक बनाने के लिए समय–समय पर विविध सूत्रों का सूत्रपात किया है जिन्हें अपनाकर व्यक्ति, जीवन को सार्थकता प्रदान कर सकता है–

1. धैर्य के बिना लक्ष्मी, वीरता के बिना विजय, धन के बिना यश, और ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं मिलता है।
2. जैसे आप अपने बारे में सोचते हो सभी के बारे में सोचो।
3. भविष्य के राग में वर्तमान को मत भूलो।
4. परिवार नियोजन नहीं वासना का नियोजन करो।
5. वासना आत्मशांति की शत्रु है।
6. शत्रु को भी शत्रु की दृष्टि से मत देखो, वह भी भगवान आत्मा है।
7. मन को पकड़ा नहीं जाता मोड़ा जाता है।
8. विश्वास बड़े संभलकर करना कई बार जीभ भी दाँत के नीचे आ जाती है।
9. शब्द मूल्य रहित है मूल्य उनके उपयोग पर आधारित है।
10. कमजोर व्यक्ति ही दूसरों की कमजोरी पर वार करता है।
11. जो दूसरों को दुःखी देखना चाहते हैं बे सबसे बड़े दुखियारे हैं।
12. घास नहीं बनो जिसपर सब चलें। आकाश बनो जहाँ सब पहुँचने की इच्छा रखें।
13. वर्तमान में सब अस्तित्व के ज्वर से पीड़ित हैं।
14. मोक्षमार्ग में मोक्ष की कामना नहीं की जाती है वरन् भावना भायी जाती है।

निष्कर्ष– आचार्य विशुद्धसागर समकालीन समय के एक ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने सामाजिक शुचिता, मानवीय चेतना तथा जीवन को सार्थक बनाने के लिए अनेक प्रकार से जनसामान्य को प्रबोधित किया है। उनका मानना है कि मनुष्य के जीवन का मुख्य लक्ष्य आत्मकल्याण की भावना का होना चाहिए। कष्टों से भरे हुए इस जीवन से मुक्ति का एक उपाय है कि वह वैराग्यपथ का अनुगमन करते हुए मोक्ष पाथ का अनुगामी बने। आचार्य श्री के साहित्य में इस बात को बार–बार रेखांकित किया गया है कि मनुष्य के दुःखों का मूल

कारण सांसारिक चीजों के प्रति मोह ही है। मोह की आसक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह व्यक्ति को परमात्मा के निकट पहुँचने में बार-बार बाधा उत्पन्न करती है। ये बाधायें मुख्य रूप से विकारों की हुआ करती हैं। इन विकारों पर विजय प्राप्त करने पर ही व्यक्ति सच्चे अर्थों में ईश्वर के प्रति श्रद्धावनत होकर, अपना आत्मकल्याण कर सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. स्वानुभव-स्वरचित।
2. 'स्वानुभव', आचार्य विशुद्धसागर, पृष्ठ-31
3. वही, पृष्ठ-36
4. 'कामायनी महाकाव्य' जयशंकर प्रसाद।
5. 'स्वानुभव' आचार्य विशुद्धसागर, पृष्ठ-42
6. वही, पृष्ठ-45
7. वही, पृष्ठ-53
8. 'ध्रुव स्वभाव', आचार्य विशुद्धसागर, (संपादकीय) डॉ. कुसुम पटोरिया।
9. 'शब्द अध्यात्म पंथी का', आचार्य विशुद्धसागर, पृष्ठ-09
10. वही, पृष्ठ-16
11. वही, पृष्ठ-20
12. वही पृष्ठ-21
13. ध्रुव-स्वभाव-आचार्य विशुद्धसागर (संपादकीय) डॉ. (प्रो.) कुसुम पटोरिया।
14. वही, पृष्ठ-37
15. वही, पृष्ठ-40
16. शुद्धात्म काव्य तरंगिणी, (कर्मो की गति), आचार्य विशुद्धसागर, पृष्ठ-60

****